पाचन कथा

डॉ. स्कन्द शुक्ल

पाचन कथा

लेखकः डॉ. स्कन्द शुक्ल

निःशुल्क सार्वजनिक वितरण हेतु ई. प्रकाशनः 2019

सभी चित्र इंटरनेट से साभार

डॉ. स्कन्द शुक्ल

22 सितम्बर, 1979 को बांदा ज़िले के राजापुर कस्बे में जन्म. पिता श्री देवेन्द्रप्रसाद शुक्ल प्रशासनिक अधिकारी तथा माता श्रीमती सरोज शुक्ल गृहणी हैं. माता-पिता से साहित्यानुराग आत्मज में भी बचपन से ही अनुसृत हो गया.

लाला लाजपत राय स्मारक मेडिकल कॉलेज, मेरठ से सन् 2002 में एम.बी.बी.एस. तथा सन् 2005 में एम.डी. (मेडिसिन) की शिक्षा पूरी की. तत्पश्चात् संजय गांधी पी.जी.आई. से इम्यूनोलॉजी में डी.एम. करके गठिया रोगों के निदान व उपचार में विशेष योग्यता अर्जित की. वर्तमान में लखनऊ में गठिया रोग विशेषज्ञ के रूप मे कार्यरत.

सामाजिक मीडिया के माध्यम से विज्ञान को लोकप्रिय बनाने तथा स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के प्रति जागरूकता हेतु सतत लेखन. प्रस्तुत पुस्तिका जन-जागरण की इस मुहिम के अंतर्गत प्रकाशित.

आम सोच पाचन-तंत्र को एक ट्यूब के रूप में जानती है: जिसके एक सिरे से भोजन को प्रवेश कराओ, तो दूसरी ओर से मल निकलता है. तरह-तरह के खाद्य पदार्थ भाँति-भाँति का पोषण देते हुए अपशिष्ट-स्वरूप होते हुए अन्ततः बाहर आ जाते हैं.

इस सरल सोच से हटकर थोड़ा अलग जानें तो पाचन-तंत्र को वस्तुतः किसी पर्यावरण-तन्त्र की तरह पाएँगे. ऐसा अद्भुत संसार जहाँ कहीं अम्लीयता है (आमाशय) तो कहीं क्षारीयता (छोटी आँत). कहीं थोड़े ही जीवाणु वास करते हैं (आमाशय), तो कहीं इनकी संख्या मानव-शरीर की कुल कोशिकाओं को टक्कर देने लगती है (बड़ी आँत). निरन्तर भोजन के रूप में कोटि-कोटि रसायन मुँह से भीतर प्रवेश कर रहे हैं: जिनपर शरीर की प्रतिरक्षक कोशिकाएँ नित्य
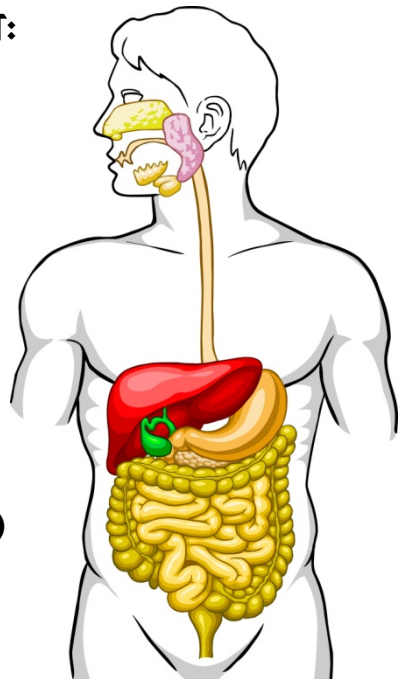
नजर रखे हुए हैं. कहीं कोई बहरूपिया उपद्रवी दिखा नहीं कि उसे तुरन्त नष्ट किया गया!

पाचन-तंत्र को किसी देश के पोर्ट-ऑफ-ऐंट्री की तरह सोचिए, जहाँ तीन तरह का स्टाफ अपनी ड्यूटी कर रहा है. पहली हैं शरीर की अपनी वे कोशिकाएँ, जो पाचक रसों की सहायता से भोजन पचाती और उसे अवशोषित करके खून में भेजती हैं. दूसरी वे सैनिक-कोशिकाएँ जो भोजन के लाभप्रद रसायनों की भीड़ में किसी दुष्ट हानिकारक रसायन को छिपकर प्रवेश न करने देने के लिए मुस्तैद हैं. तीसरे वे जीवाणु हैं, जो पोर्ट-ऑफ-एंट्री के अलग-अलग हिस्सों में अपनी नौकरी करते आ रहे हैं.

हमारे प्राचीन पूर्वज जंगल में रहते थे, शिकार करके जीवन जीते थे. उनकी आँतों में जीवाणु-विविधता सर्वाधिक थी. कारण कि जंगल का भोजन एक निश्चित पैटर्न के अनुसार नहीं मिलता. वनवास मानव-विकास का एक ऐसा कालखण्ड था, जब नित्य नये खतरे हुआ करते थे और नवीन विविध भोजन के साथ नयी-नयी जीवाणु-प्रजातियाँ भीतर प्रवेश पा जाती थीं.

फिर हम खेतिहर हुए. एक भूमि का टुकड़ा पकड़ा और उसपर अन्न उगाना चालू कर दिया. वन छूटा, तो उसका

वैविध्यपूर्ण भोजन भी छूटा. साथ ही आँतों में कम हुई जीवाणु-प्रजातियों की किस्में भी. लेकिन अब भी सन्तोष यह था कि हमारा मिट्टी से सम्पर्क नहीं कटा था.

तत्पश्चात् हम अत्याधुनिक शहरी में बदल गये. हमें नित्य नये जीवाणु मुहैया कराने वाली मिट्टी हमारे लिए अवांछित डर्ट हो गयी और सफाई सौन्दर्य का अत्यावश्यक आयाम. हमने अपनी रिहाइश के साथ अपना भोजन भी बदल दिया. हिरण के शिकार और पेड़ से फल तोड़ते हुए हम धान-बाजरे की खेती और गाय के दूध तक जो आ गये थे, अब मैदे-चीनी-नमक-तेल के चटोरेपन से चिपक कर रहने लगे!

किसी शहरी बाबूजी की आँतों में मिलने वाली जीवाणु-विविधता किसी गाँव के किसान से कम है और गाँव के किसान की किसी आदिवासी से न्यून. ऐसे में कोई आश्चर्य नहीं कि शहरी लोग बढ़ती तादाद में आँतों के कैंसरों और अल्सरेटिव कोलाइटिस जैसे आँतों के ऑटोइम्यून रोग से जूझ रहे हैं. हमने अपना भोजन बदला, कीटनाशकों से युक्त आहार को भीतर आने दिया. छोटे-छोटे रोगों के लिए बार-बार एंटीबायटिक खाना शुरू किया. डॉक्टर भी इसमें बढ़चढ़ कर शामिल रहेः उन्होंने सुपरपग के खतरे को उठाते हुए दनादन एंटीबायटिक लिखीं और अधिकाधिक महिलाओं को सामान्य डिलीवरी की जगह सीजेरियन के ऑपरेशन की सलाह दी. और स्वच्छता! सभी लोगों ने उसका तो एक उन्मुक्त ऑब्सेशन पाल लिया!

अब जो जागरूक हो रहे हैं, वे सोचते हैं कि वे आज से ही बर्गर और फ्रेंचफ्राइज नहीं खाएँगे. अब से मोटा अनाज खाएँगे और फल-सब्जियों का सेवन करेंगे. मामूली बुखार-जुकाम-

खाँसी के लिए एंटीबायटिक-सेवन से दूरी बनाएँगे. बच्चों संग मिट्टी में खेलेंगे, पार्कों में घूमेंगे. जब इतना कुछ करेंगे, तब तो आँतों में जीवाणु की आबादी और जैव विविधता दोनों फिर से बढ़ जाएँगे न !

हमें यह समझना है कि जंगल की कमी को वृक्षारोपण पूरा नहीं कर सकता. जंगल जंगल है, दशकों-सदियों में कुदरती तौर पर खड़ा हुआ है. विकास के नाम पर काटे गये पेड़ों के लिए करोड़ों पौधे रोप देने से जंगल का पर्यावरण-तन्त्र वापस आ जाएगा, यह सोच निहायत बचकानी है. प्रयास जंगल-नाश को रोकने का करना है, न कि उसे

काटकर उसकी भरपाई के लिए पौधे लगाने का. अब इसी दृष्टिकोण से आँतों की जीवाणु-जनसंख्या को भी समझने का प्रयास कीजिए.

हम चाहे लाख अपने जीवन में बदलाव करें, पहले ढेरों जीवाणु-प्रजातियाँ जो हमारी आँतों में खिलत-खेलती थीं, वापस कभी नहीं आएँगी. ऊलजलूल एंटीबायटिक-सेवन के पाप को हम प्रोबायटिक-सेवन करके नहीं धो पाएँगे. जीवाणुओं की ढेरों प्रजातियाँ केवल वनवासियों के भीतर मिलती हैं और उनके बच्चे सामान्य जन्म के समय उसे अपनी माँओं से विरासत में पाते हैं. अब कोई महिला जिसने दशक-भर बर्गर-फ्रेंच फ्राइज खाये हैं और 99.9% जीवाणुहीन

स्वच्छता के ऑब्सेशन के बीच बड़ी हुई है, जन्मोपरान्त उसका शिशु कहाँ से वह जीवाणु-वैविध्य पा पाएगा जो किसी आदिवासी-शिशु या किसान के बेटे में मिलता है?

तो उपाय क्या है? यही कि यथासम्भव अब चेत जाया जाए. यह जो मुक्त बाजार के नाम पर प्रॉसेस्ड भोजन का नाशकारी कारोबार खड़ा हुआ है, इसके जिह्वालोलुप प्रलोभनों में न फँसा जाए. अन्यथा जो कुछ आँतों में सुरक्षित कुलबुला रहा है, वह भी नष्ट होता जाएगा.

* * *